

सिनेमा

सत्तर के दशक (1970-1979) के हिन्दी फिल्मों में स्त्री की दुनिया

आशीष कुमार

सत्तर के दशक के आरंभिक वर्षों में देश बड़े ही नाजुक दौर से गुजर रहा था। राजनीतिक और सामाजिक अस्थिरता दिनों-दिन बढ़ती जा रही थी। सन् 1970-71 तक नक्सलवादी-आंदोलन का फैलाव व्यापक स्तर पर हो चुका था। पढ़े-लिखे हजारों बेरोजगार युवकों की सक्रिय भागीदारी इस आंदोलन को हर विधि से सफल बनाने के लिए बढ़ती चली गई। पश्चिम बंगाल के एक छोटे से कस्बे से शुरू हुआ यह आंदोलन बिहार, असम और उड़ीसा में तेजी से फैलने लगा। यह आंदोलन पूँजीवादी और सामंती व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने और गरीब-बेसहारों को उसका उचित अधिकार दिलाने के प्रति पूरी तरह से प्रतिबद्ध था। इस आंदोलन से जुड़े लोगों को हिंसा के द्वारा ही समाधान मिलने पर विश्वास था, इसलिए यह आंदोलन एक हिंसात्मक रूप लेता चला गया। केंद्र सरकार की सहायता से प्रभावित राज्यों की पुलिस को इस आंदोलन को कुचलने के लिए अर्धसैनिक बल भेजा गया। फिर शुरू हुआ राज्यों की सह पर पुलिस की अमानवीय दमनकारी कार्रवाई जिसके अंतर्गत सैकड़ों युवाओं की जानें गईं और बर्बरतापूर्वक हजारों को बंदी बनाया गया। इससे युवाओं के अंदर, केंद्र सरकार और प्रभावित राज्यों की सरकारों के प्रति भीषण विरोध की भावना भड़कने लगी। बड़े पैमाने पर आंदोलनकारियों द्वारा गाँव-गाँव में पूँजीपति-सामंतों के खिलाफ हिंसात्मक कार्रवाई बढ़ती चली गई। पुलिस

बनाम युवा की इस कार्रवाई के कारण प्रभावित राज्यों में हर तरफ एक असुरक्षा का वातावरण बनता चला गया। बड़े पैमाने पर इन राज्यों के युवाओं का पलायन आसपास के बड़े शहरों और महानगरों में होने लगा। इन सारी सामाजिक-अराजकता एवं राजनीतिक-अस्थिरता

का तत्कालीन नई धारा की फिल्मों पर भी पड़ा। सबसे बड़ा प्रभाव सिनेमा की भाषा पर पड़ा जो और अधिक पैनी और सटीक होती गई।

1972 ई.में मृणालसेन द्वारा निर्देशित 'मायादर्पण' एक असाधारण समझ वाली फिल्म है। जहाँ कंटेंट तथा फार्म को अलग-अलग देखना असंगत होगा। यद्यपि इस फिल्म का केंद्रीय-चरित्र एक स्त्री है और उसी के मुख्य-विषय के रूप में फिल्म के माध्यम से दिखाया गया है। इस फिल्म में स्त्री की दुनियाँ सीधे आख्यानात्मक विवरण के द्वारा नहीं दिखाया गया है बल्कि यह दर्शकों को उच्च क्वालिटी के सेन्सनेस से आच्छादित कर देती है, जो कि हिंदी-सिनेमा के इतिहास में दुर्लभ है। यह फिल्म अपने थीम तथा ट्रीटमेंट में बिलकुल वास्तविक लगती है।

कला फिल्मों में ही वास्तव में स्त्री की दुनियाँ को नारीवादी परिप्रेक्ष्य से दिखाने की कोशिश की गई है। इन फिल्मों में तो स्त्रियों को अपना अधिकार नहीं मिलने पर लड़ते हुए/संघर्ष करते हुए अधिकार छीनने तक को दिखाया गया है। इन फिल्मों में एक बात गौर करने लायक है कि कला फिल्मों में शहरी स्त्रियों को तो अपने परिवार से संघर्ष करते अथवा वैवाहिक जीवन में होने वाले शोषण से विरोध करते दिखाया गया किंतु ग्रामीण स्त्रियों को उन्हीं अत्याचारों को झेलते हुए ही दिखाया गया है। श्याम बेनेगल द्वारा निर्देशित इस दौर की सभी फिल्मों में मुख्य पात्र महिलाएँ ही रही हैं जिनका शोषण उनका परिवार, समाज या पितृ-सत्तात्मक समाज करता है। इस तरह की फिल्मों में स्त्रियों को दबाने तथा उनके अधिकारों से उन्हें वंचित रखने में महती भूमिका अदा खुद उसका जीवनसाथी करता है।

सन् 1974 में आई 'अंकुर' में शबाना आजमी को लक्ष्मी के रूप में सहज तथा कामुक दिखाने की कोशिश की गई है। मुख्यधारा के हिंदी-सिनेमा की उस

समय की स्त्री छवि 'ग्लैमर-डॉल' से इन फिल्मों की स्त्रियों को अलग तरीके से चित्रित किया गया है। पूरी फिल्म में मुख्य चरित्र लक्ष्मी के कई कभी न भूलने वाले छवि से दर्शक रू-ब-रू होता है। लक्ष्मी अपने मालिक को पूरी गरिमा के साथ उसके साथ वापस जाने से मना करती है। उसका मालिक सूर्या (अनंत नाग) जब उसे वापस चलने के लिए प्रार्थना कर रहा होता है और अपने कृत्य के लिए माफी माँग रहा होता है तो लक्ष्मी के चेहरे पर विजय भावना के निशान स्पष्ट देखने को मिलता है। अपने मालिक के विनम्र निवेदन को लक्ष्मी बहुत प्रतिक्रियावादी तरीके से नहीं लेती। उसे जब पता चलता है कि वह गर्भवती है तो वह चीखती-चिल्लाती नहीं है। बल्कि अपने गर्भ को स्वीकार कर वह बहुत शांत तरीके से काम पर जाती है। वह जमींदार (अनंत नाग) के कहने के बावजूद भी जब गर्भपात नहीं करवाती है तब इसका बदला उसके गूंगे-बहरे पति से लेने की कोशिश की जाती है। जब लक्ष्मी का पति अनाज चोरी के मामले में पकड़ा जाता है तब लक्ष्मी का मालिक/जमींदार/शोषक/सूर्या उस बेचारे (गूंगे-बहरे) के चेहरे को कालिख से पोतकर, गधे पर बैठाकर पूरे गाँव में घुमाता है। सूर्या के इस अत्याचार से लक्ष्मी बहुत आहत होती है और वह जमींदार को बहुत कोसती है। इस दृश्य में सूर्या (जमींदार) दरवाजा बंद कर बेचैनी से उसे सुन रहा होता है। इस दृश्य में जमींदार युवक के प्रति निर्देशक की थोड़ी सहानुभूति का बोध होता है। उसे जिस रूप में दिखाया गया है यानि उस समय कैमरा से जो क्लोज-अप अंकित होता है उससे जमींदार युवक में परिवर्तन जैसी अनुभूति होती है।

लक्ष्मी द्वारा अपने शराबी तथा गूंगे-बहरे पति के लिए हुए अचानक झुकाव को हम स्त्रियों के स्टीरियोटाइप चित्रण में ही रख कर देख सकते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि हमारा समाज इस बात को बहुत आदर्शकृत करता है कि चाहे पति जैसा भी हो वह पति है, भगवान के बराबर है और स्त्रियों को हमेशा इसका ख्याल रखना चाहिए। लेकिन जब जमींदार सूर्या (अनंत नाग) को यह लगता है कि लक्ष्मी के गर्भवती होने का कारण वह खुद है यह गाँव वाले को पता चल जाएगा और उसकी बदनामी होगी तो वह लक्ष्मी को अपने यहाँ

से जाने को कहता है। वह लक्ष्मी से कहता है 'तुम्हें अपने इस कृत्य पर अर्थात् गर्भवती होने की घटना पर शर्म नहीं आती' तो लक्ष्मी का जवाब होता है- (वह कठोरता से प्रत्युत्तर में कहती है)- क्या तुम्हें शर्म नहीं आती? फिल्म के अंत से कुछ क्षण पहले एक स्त्री द्वारा एक पुरुष जो उसके गर्भ में पल रहे बच्चे का बाप है को धिक्कारना दिखाया जाना पूरी फिल्म में स्त्री की दुनियाँ के चित्रण को सार्थक बनाता नजर आता है और फिल्म का यह दृश्य दर्शक के मानस पटल पर अंकित हो जाता है सदा के लिए।

सन् 1977 ई.में आई 'भूमिका' जिसका निर्देशन श्याम बेनेगल ने किया था। 1980 के दशक में भारतीय उत्तर-औपनिवेशिक इतिहास-लेखन ने पारंपरिक पुरुष-वर्चस्व से आक्रांत इतिहास-लेखन के कई बंद दरवाजों को खोला तथा इतिहास-अध्ययन में स्त्रीवादी-चिंतन को स्थान मिला। यह फिल्म इस दौर के यथार्थवादी सामाजिक-दृष्टि और इसी बौद्धिक उभार का एक कलात्मक प्रतिफल है। भारतीय समाज में स्त्री-संबंधी दृष्टिकोण में समय के साथ गुणात्मक परिवर्तन आए और कहना न होगा कि इसमें बेनेगल के 'भूमिका' का महत्व क्या है।

प्रसिद्ध फिल्म-अभिनेत्री (मराठी) हंसा वाडेकर की आत्मकथा 'सांगत्ये आएका' पर आधारित है 'भूमिका' जिसकी पटकथा स्वयं श्याम बेनेगल ने गिरीश कर्नाड और पंडित सत्यदेव दुबे के साथ मिलकर लिखी है। "सांगत्ये आएका" संभवतः भारतीय साहित्य की परंपरा में किसी भी स्त्री के द्वारा लिखी गई ऐसी पहली आत्मकथा है जिसमें घरेलू-हिंसा से लेकर, बालशोषण और पुरुषों के द्वारा किए गए यौन-शोषण का इतना बेबाक बयान किया गया है। एक स्त्री होने के नाते बचपन से लेकर जवानी तक हंसा ने अपने को वस्तु हो जाने की नियति को रेशा-रेशा उधेड़कर देखा है। हंसा की यह आत्मकथा हिंदुस्तानी समाज की आम स्त्रियों की पीड़ा का दस्तावेज है, जिसमें घर से लेकर बाहर तक पति, मित्र, प्रेमी सबने एक वस्तु के रूप में उसका

उपयोग किया। श्याम बेनेगल ने एक काल्पनिक पात्र उषा (स्मिता पाटिल) के बहाने हंसा की अनदेखी जीवन-कला को सांस्कृतिक-समीक्षा के रूप में प्रस्तुत कर आम भारतीय-नारी की पीड़ा का महाकाव्य रचा है।

भूमिका में अमोल पालेकर ने उषा के पति का किरदार निभाया है। वह स्वयं जुआरी, शराबी, ऐशपसंद और पत्नी की कमाई पर मौज करने वाला इंसान है और पुरुषवादी-मानसिकता के कारण इस हीनग्रंथी का शिकार भी है कि पत्नी की कमाई पर पल रहा है। अपनी इसी हीनताभाव के कारण वह उषा के चरित्र पर आक्षेप लगाता रहता है। ऐसा करने का एक महत्वपूर्ण कारण उषा पर मनोवैज्ञानिक दबाव बनाना होता होगा। ऐसा फिल्म से ध्वनित नहीं होता बल्कि व्यंजित होता है। ऐसे में ही उषा के अलग बैंक अकाउंट खोलने का राज उसके पति पर जाहिर होता है। उषा का उद्देश्य ऐसा करके अपनी बेटी के भविष्य को सुरक्षित करने का है, पर केशव (उसका पति) उषा के मंतव्य को समझता नहीं या कि समझना नहीं चाहता। वह भयाक्रांत है कि उषा इस तरह से उसकी निर्भरता से बाहर हो जाएगी। भारतीय स्त्री की यह विडंबना रही है कि उसकी अपनी कमाई पर भी उसका पति, पिता या भाई अपना मौलिक अधिकार समझता है। फ्रांस में स्त्रीवादी आंदोलन की सूत्रधार 'सिमोन द बोउआर' ने अपनी पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' में विस्तार से इस बात का विश्लेषण प्रस्तुत किया है कि एक स्त्री की आजादी का रास्ता उसकी आर्थिक आजादी से प्रशस्त होता है। पर स्त्री की आजाद-ख्याल पुरुष वर्चस्व को चुनौती देकर ही संभव है, क्योंकि स्त्री-पुरुष के संबंधों में सामंती मूल्यबोध के आरोपन से पुरुषों ने कृत्रिम रूप से एक शक्ति-संघर्ष की स्थापना कर रखी है और अपने वर्चस्व को वह कुशलता से एक संस्थागत रूप दे रखा है- 'जिमि स्वतंत्र मई बिगरहिं नाहि' श्याम बेनेगल ने 'भूमिका' के माध्यम से न केवल स्त्री-अस्मिता के सवाल पर बहस किया बल्कि इस स्टीरियोटाइपिंग को भी तोड़ा कि एक स्त्री को जीने के लिए एक पुरुष की अनिवार्य आवश्यकता होती है। हम 'भूमिका' में देखते हैं कि उषा

न केवल पति के शोषण का शिकार होती है, बल्कि मित्र, प्रेमी, सबने उसके स्त्री होने का फायदा उठाया है। विश्वसनीय साथी की तलाश से निराश होकर उषा अकेले रहने का निर्णय लेती है। यही इस फिल्म का चरमोत्कर्ष (Climax) तथा संदेश है।

श्याम बेनेगल द्वारा निर्देशित 'निशांत' (1975 ई।) में विश्वम और उसके भाई एक प्राथमिक पाठशाला के मास्टर (गिरीश कर्नाड) की पत्नी (शबाना आजमी) का अपहरण कर लेते हैं। अपनी हवस के लिए सुशीला का शारीरिक-शोषण करना उनका एकमात्र उद्देश्य होता है। मास्टर द्वारा जमींदार से अपनी पत्नी को वापस करने की प्रार्थना विफल होती है। हताश और मजबूर मास्टर पंचायत, पुलिस स्टेशन, जिले के कलेक्टर आदि से गुहार लगाता है पर कहीं से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती। अखबार का संपादक तक इस दुर्दांत घटना पर हैरतजदा होने के बजाए मास्टर को अखबार के नाम एक खत लिखने की सलाह देता है जबकि मास्टर इसे खत के रूप में नहीं खबर के रूप में छपवाना चाहता है। अखबार का संपादक मजबूरी का बहाना बनाता है और कहता है- 'भैया', अगर यह खबर छाप दें तो शायद छापाखाना बेचना पड़ेगा। इज्जत का दावा कर दिया उन लोगों ने, तो हर्जाना भरते-भरते दिवाला पिट जाएगा, हताश मास्टर मंदिर के पुजारी की सहायता से गाँव के लोगों को एकत्र करता है और उनके समक्ष अपनी पत्नी के अपहरण को विराट सामाजिक घटना के रूप में प्रस्तुत करता है। सदियों से भयभीत समाज अचानक इस घटना के प्रति विद्रोही नहीं हो पाता है। लेकिन पुजारी तथा मास्टर अपना प्रयास जारी रखते हैं। सदियों से चली आ रही शोषण की यह परंपरा सुशीला के रूप में मूर्त हो उठती है और देवी पूजन के दिन संगठित किसानों और मजदूरों का समूह नियोजित रूप से ठाकुर की हवेली पर हमला बोल देते हैं। वर्षों से दबा हुआ जनता का आक्रोश बेहद हिंसक हो जाता है। जमींदार अपने सभी भाइयों सहित मारा जाता है। इस हिंसा में जमींदार विश्वास की पत्नी रूक्मिणी (स्मिता पाटिल) और सुशीला भी मारी जाती

है जबकि ये महिलाएँ स्वयं भी एक स्त्री के रूप में उन जमींदारों के थोथे मूल्यों और झूठी शानो-शौकत का ग्रास बनी हुई है। साथ ही साथ अपने अस्तित्वबोध के संकट से भी परेशान होती है। रुक्मिणी और सुशीला का इस फिल्म के अंत में हिंसा का शिकार हो जाना कष्टप्रद अवश्य है, पर वह जिस आक्रोश का शिकार होती है उसमें तार्किक होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। रुक्मिणी की मौत से उपजे उहापोह को पंडित ने अपने सात्विक अभिनय से सवाक कर दिया है। अचानक उठ खड़े हुए इस तूफान ने अमानवीय और शोषण पर आधारित तथा अंधेरे की हिमायती इस व्यवस्था का अंत कर अंध युग से बाहर आने की घोषणा कर दी। 'निशांत' स्त्रियों के लिए भी अंधेरगर्दी के अंत की घोषणा है।

सत्तर के दशक में हिंदी की मुख्यधारा के सिनेमा में पुरानी मान्यताओं तथा पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित आधुनिकता में टकराहट दिखाई देती है। इस दौर की कई फिल्मों में स्त्री-चरित्रों ने यदि पुरानी परंपराओं/मान्यताओं को मानने से इंकार किया या तोड़ने की कोशिश की तो उसके लिए उन्हें सजा भुगतना पड़ा है। सन् 1970 में आई 'पूरब और पश्चिम' (जिसका निर्देशन मनोज कुमार (भारत कुमार) ने किया था) में हम देखते हैं कि मुख्य-चरित्र प्रीति (सायरा बानो) (जो कि सिगरेट तथा शराब पीती है) को किस तरह प्रताड़ित किया जाता है। प्रीति सामंती समाज की रूढ़ सोच के खिलाफ चलती है इसलिए उसे प्रताड़ित किया जाता है। पूरी फिल्म में उसकी छवि खलनायिका के आसपास दीखती है। वरिष्ठ हिंदी फिल्म समीक्षक जवरीमल पारख के निम्नलिखित कथन से मुख्यधारा के हिंदी-सिनेमा की इस साजिश को समझा जा सकता है- हिंदी के व्यावसायिक सिनेमा ने अब तक नारी की जो तस्वीर पेश की है, वह वही है जिसके आदर्श धार्मिक-पुस्तक में मिलते हैं और जो प्राक पूँजीवादी-समाज में नारी की वास्तविक स्थिति का प्रतिबिंब है। इसके अनुसार नारी-जीवन की इसके अलावा और कोई सार्थकता नहीं है कि वह अपने पति और बच्चों के लिए जीए, अपनी दैहिक-पवित्रता की रक्षा करे और हर तरह से अपने पति के प्रति एकनिष्ठ रहे। कोई ऐसा कदम न उठाए जिससे घर

की इज्जत पर आँच आए। जो नारी इन जीवन-मूल्यों को स्वीकार नहीं करती उन्हें हिंदी-फिल्मों में खलनायिका बनाकर पेश किया जाता है। नारी के, ये ही दो रूप हिंदी-सिनेमा को स्वीकार्य रहे हैं और इसका समसामायिक नारी-यथार्थ से कोई संबंध नहीं है। लेकिन इस तरह की फिल्में उस पुरुष-वर्चस्व को बनाए रखने में अहम् भूमिका निभाती हैं जिसके चलते नारी की सामाजिक-स्थिति दोगम दर्जे की बनी हुई है।

देवानंद द्वारा निर्देशित 'हरे रामा हरे कृष्णा' (1971) में मुख्य नायिका जेनीस (जीनत अमान) यह सोच कर आत्महत्या कर लेती है। वह समाज के बनाए नियमों से बहुत दूर निकल चुकी है, जहाँ से वापस आना असंभव है, जबकि हम देखते हैं कि समाज में उसके वापस लौटने के दरवाजे बंद नहीं हुए थे।

एम. एस. सत्यु की 'गर्म हवा' (1973 ई.) में सलीम मिर्जा के संघर्षों का दुख भरा बयान है। जूता कारखाने के मालिक और पैतृक हवेली में भरे-पूरे परिवार के साथ रहने वाले सलीम मिर्जा सरीखे भारतीय मुसलमान को विभाजन की कड़ी मार से किस तरह अकेले और अधमरे जीव की तरह छटपटाते हुए अपने ही कारखाने में कारीगर के रूप में काम करने के लिए विवश होना पड़ता है, इसे बेहद तड़प के साथ मूलकथा में समाहित किया गया है। सभी उनसे मुँह फेर लेते हैं। चाहे उनके अपने सगे-संबंधी हों या बैंक या साहूकार। जिस हवेली के दस्तखान खाने की रकाबियों की कतार से सजे होते थे और भरे-पूरे परिवार की चटपटी बातों और गर्मागर्म बहसों से गुलजार रहते थे वे एक-एक करके लोगों के पाकिस्तान चले जाने से सलीम मिर्जा से हवेली की छत भी छीन जाती है। कारीगर कारखाने के भविष्य के प्रति शंकित होकर अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। शूज एसोसिएशन की घोषित हड़ताल में शामिल न होने की सजा के तौर पर उन्हें टेंडर भरने से रोक दिया जाता है। पुलिस जासूसी के झूठे आरोप में उन्हें गिरफ्तार कर लेती है। दंगे में उनका कारखाना जलाकर राख कर दिया जाता है। इस तरह विभाजन एक साँप की तरह उनके व्यापार और घर-परिवार पर

अपना फन फैलाता है और उन्हें अपने भीतर लेकर डस लेता है।

‘गर्म हवा’ की समीक्षा के दौरान समीक्षक एक बात जो अक्सर नजरअंदाज कर देते हैं वह है कि सलीम मिर्जा की बेटी आमना का किरदार। आमना के किरदार के बहाने फिल्म में स्त्री-विमर्श भी है। आमना की कहानी मूल-कथा के साथ-साथ चलती है। आमना की जिंदगी में दो मर्द आते हैं और दोनों ही उसे धोखा देकर पाकिस्तान चले जाते हैं। शादी के नाम पर वह दो बार छली जाती है। आमना इन सब बातों से इतना टूट जाती है कि आखिर में आत्महत्या कर लेती है। आमना की त्रासदी और बंटवारे की त्रासदी दोनों ही यहाँ आकर एक साथ मिल जाती है। निर्देशक ने फिल्म में सलीम मिर्जा के बाद आमना के किरदार को ही सबसे ज्यादा स्पेस दिया है। फिल्म के एक दृश्य में आमना की भाभी, उससे सलीम चिश्ती की दरगाह पर मन्नत माँगने के लिए जाने को बोलती है। आमना का जवाब होता है- ‘मेरी पहली दुआ कब सुनी सलीम चिश्ती ने, जो मैं दूसरी दुआ माँगने जाऊँ’। आमना के अलावा दादी का किरदार भी फिल्म में उभरकर सामने आया है। दादी हमेशा अतीत में जीती है। नास्टेलेजिया, दादी पर इस कदर हावी है कि वह अपनी हवेली से भी नहीं जाना चाहती। जब हवेली खाली करने की बारी आती है तो वे लकड़ी की कोठरी में छिप जाती हैं जिससे उन्हें कोई हवेली से बाहर न ले जाए।

कमाल अमरोही द्वारा निर्देशित ‘पाकीजा’ (1972) मुस्लिम समाज की पुरानी यादों को सही तरीके से दिखलाने वाली आखिरी फिल्म थी। इस फिल्म में मीना कुमारी ने लखनऊ की तवायफ का किरदार किया है जो कि एक नवाब तथा तवायफ की नाजायत औलाद है। पूरी फिल्म उस तवायफ की सिर्फ स्त्री मानने की वैधता के लिए किए जाने वाले संघर्ष को समर्पित है। बहुत सारी मानसिक परेशानियों तथा सामाजिक निर्वासन के बाद वह नवाब के पड़ोसी से शादी करने में सफल हो जाती है।

हिंदी-सिनेमा की नई धारा के अंतर्गत बनने वाली स्त्री-प्रधान फिल्मों के अलावा सत्तर के दशक में ऋषिकेश मुखर्जी के ‘मध्यम मार्ग सिनेमा’ में भी स्त्रियों की दुनियाँ को विशेष स्थान दिया गया है। 1971 ई.में आई ‘गुड्डी’ फिल्म तथा 1973 ई.में आई ‘अभिमान’ को उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है, जिसमें स्त्रियों को डाउन-टू-अर्थ दिखाया गया है। इन दोनों फिल्मों की स्त्री-पात्र काफी शिष्ट/सभ्य दिखलाई गई हैं। अंततः सत्तर के दशक में ‘शोले’ (1975 ई.), ‘जंजीर’ (1973 ई.) तथा ‘दीवार’ (1975 ई.) ब्लॉक-बास्टर के द्वारा ‘एंग्री यंग मैन’ हिंदी-सिनेमा में अवतरित हो चुका था और अभिनेत्रियाँ (नारी-पात्र) अवनति के पथ पर अग्रसर हो रही थीं। अर्थात् नायिकाओं की भूमिका इन ‘माचो’ समान चरित्र के आगे अदना-सा प्रतीत होता गया।

संदर्भ- ग्रंथ:

1. कुमार कौशल, ‘श्याम बेनेगल कला की जीवनधर्मिता का हिमायती’, समसामयिक सृजन, अक्टूबर-मार्च, 2012-13 (संयुक्तांक).
 2. पारख जवरीमल; लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001.
 3. अग्रवाल प्रहलाद (संपादक); हिंदी-सिनेमा वीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2009.
 4. परवीन फरहत (सं.), सामाजिक मूल्यों से स्त्री का अंतर्द्वंद्व, आजकल, मार्च, 2014, दिल्ली
 5. पारख जवरीमल ; हिन्दी सिनेमा का समाज शास्त्र, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली 2006
 6. Somaaya Bhawana, Kothari Jigna, Madangarli Supriya; Mother Maiden Mistress: Women in Hindi Cinema, 1950-2010, Harper Collins, India, Delhi.
- संपर्क : शोधार्थी, नाटक और फिल्म अध्ययन विभाग,
म.गा.अ. हिन्दी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा,
महाराष्ट्र - 442,001